



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से दृष्टि का परिणामन और द्रष्टि का विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनमृत

जो पर्याय जिस कालमें होनेवाली है, तभी होती है। मुनिदशा भी सहज होती है। पहले भावना होती है; लेकिन अभिप्रायकी पहले प्रधानता करो; पीछे योग्यता प्रधानी हो जाओगे। जो पर्याय जब होनेवाली है तब ही होती है। 'अपन' तो जहाँ बैठे हैं, वहाँ कुछ करना-कराना नहीं है। 'अपन तो बंध और मुक्ति दोनोंसे रहित हैं।' सम्यग्दृष्टि जीवको मुनिपदसे लेकर पूर्ण शुद्धदशाकी भावना आती है फिर भी उसे अपने अक्रिय चिद्बिम्बका ही अभिप्राय मुख्य रहता है। अतएव मुमुक्षु जीवको भी दृष्टिके विषयभूत स्वरूपकी मुख्यतामें रहकर ही अध्यात्मदशाकी भावना होनी चाहिए; वरना पर्यायदृष्टि छूटी नहीं होनेसे उसे भावनाकी तीव्रतामें भी पर्याय-प्रधानता वृद्धिगत हो जाएगी। २९४.

दृष्टि के विषय की हर समय मुख्यता रहनी चाहिए। (दूसरी) चाहे जितनी बात आओ, लेकिन उसकी (दृष्टि के विषय की) गौणता नहीं होनी चाहिए। २९५.

पूरे 'समयसारजी' में छठी गाथा में सम्यग्दर्शन का खास विषय आ गया है। छठी गाथा में सबसे उत्कृष्ट बात आगयी है। 'मैं प्रमत्त भी नहीं, अप्रमत्त भी नहीं,' कौनसी पर्याय बाकी रही ? २९६.

आत्मा तो गंभीर है; समुद्र की माफ़िक अनंत शक्तियाँ अपने में संग्रह करके बैठा है; इसकी दृष्टि होते ही ज्ञान में भी गंभीरता और विवेक आता ही है। ३०६

'मैं' तो विकल्प से शून्य हूँ और मेरे भावों से 'मैं' भरपूर हूँ। ३१३.

(द्रव्य -) दृष्टि तो अस्थिरता और स्थिरता दोनों की ही नहीं कबूलती है। ३६०.

'दृष्टि' ऐसी प्रधान चीज है कि स्वभाव में दृष्टि जमते ही (सब) परिणाम खिलने लगते हैं। ('दंसणमूलोधम्मो।' जैसे मूल में पानी सिंचन से वृक्ष पनपता है, वैसे।) ३६८.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२७१, वर्ष-२४, जुलाई-२०२०

आषाढ़ कृष्ण ५, गुरुवार, दि. ७-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-७६ प्रवचन-२८

‘समयसार’ आठवीं गाथा में है न! ‘जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।’ आहाहा...! यह भगवान आत्मा को तीन रूप से कहना, गाना इसका नाम अनार्य भाषा है। उसे इस प्रकार समझाये बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसे एकरूप प्रभु का ज्ञान नहीं है, इसलिए भगवान आत्मा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को पहुँचे, प्राप्त हो, वह आत्मा - ऐसा कहे बिना वह समझता नहीं है, तथापि वह कहना उस कहनेवाले को उस समय भले ही विकल्प है परन्तु वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। सुननेवाला भले ही इस प्रकार सुने - यह भगवान आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रुव अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्रवाला है -ऐसा भले ही विचारे परन्तु उसमें रहने योग्य, अनुसरण करने योग्य नहीं है। वहाँ से हटकर ज्ञायकभाव में एकाकार होने योग्य है। आहा...हा...! समझ में आया?

उत्पाद-व्यय और ध्रुव। समय-समय पर्यायों के पलटने से उत्पत्ति - विनाश करते हुए भी अपने स्वभाव से अविनाशी है... भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में परिणमित होते हुए भी, उत्पत्ति और व्यय ऐसा पलटा खाने पर भी वस्तु का पलटा नहीं है - ऐसे अविनाशी को धरनेवाला

वह तत्त्व है। पर्याय से पलटे और वस्तु से अपलटे - सदृश्य रहे - ऐसी वह वस्तु है। आहा...हा...! इसमें क्या करना? यह आता है, वह व्यवहार है। आहा...हा...! भगवान की भक्ति और पूजा का व्यवहार तो बहुत स्थूल, बाहर रह गया। समझ में आया?

अथवा वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है। ऐसा विचार करना, कहते हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य उसकी अस्ति के तीन प्रकार और या यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन गुणोंवाला ऐसा है, उसका विचार करना। भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन का धारक उसका गुण त्रिकाल है। पर्याय सम्यग्दर्शनरूप परिणमती है। सम्यग्ज्ञान त्रिकाल है, पर्याय से सम्यक् रूप परिणमती है। चारित्ररूप त्रिकाल है, पर्यायरूप से (चारित्र) परिणमता है। ऐसे इन गुण और पर्यायवाला आत्मा है - ऐसे तीन भेद से एक का विचार करना, इसका नाम भगवान व्यवहार कहते हैं कि जो व्यवहार हेय है। आहा...हा...! बापू! तेरे घर में गये बिना तेरा छुटकारा नहीं है। ऐसे भेद-विचारने को वह घर से बाहर निकलता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

चार प्रकार विचार करे तो यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप... इच्छा निरोध। चार आराधना के स्वरूप का विचार करे। भगवान आत्मा ऐसे वस्तु से ज्ञायकरूप होने पर भी जब विचार भेद में आता है, तब ऐसा विचारना कि यह सम्यग्दर्शनमय वस्तु, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और परमानन्द की उग्रदशारूपी तप, परमानन्द की उग्रदशारूपी तप (- ऐसे) चार गुणवाला यह भगवान है परन्तु मैं यह हूँ - ऐसी हूँ के अन्दर बात है। आहा...हा...! समझ में आया?

अथवा यह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्टयस्वरूप है। भगवान आत्मा अपनी ऋद्धि में... अपनी सम्पत्ति में... पोतानी (अपनी) यह हमारी काठियावाड़ी भाषा है। पोतानी का अर्थ अपनी, ऐसा सब हिन्दी समझ लेना। क्यों, राजमलजी! पोतामां... पोतामां... अर्थात् क्या होगा? यह काठियावाड़ी भाषा है (इसलिए) जरा कठिन लगेगी। पोतामां अर्थात् क्या? पोतामां क्या होगा? पोतामां अर्थात् अपने में, ऐसा। पोतामां अर्थात् अपने में, अपने में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त बल (- ऐसे) अनन्त चतुष्टय की धारक वस्तु स्वयं ही है। एक को चार रूप से धारक विचार करना, वह व्यवहार और भेद है। आहा...हा...! यह व्यवहार भले ही आवे (परन्तु उसका) उत्साह करने योग्य नहीं है। ऐसा आये बिना रहता नहीं। सर्वज्ञपद पूर्ण एकदम नहीं होता, उसे समय लगता है। सर्वज्ञदशा प्रगट



करने को असंख्य समय लगते हैं तो कहते हैं, ऐसे विचार होते हैं ऐसा व्यवहार होता है। (इस प्रकार) चार स्वरूप है।

अथवा यह सुख-सत्ता चैतन्य बोध चार भाव प्राणों का धारी है। चार भावप्राण लिये हैं। सुख-आनन्द, अस्तिरूप रहा हुआ आनन्द और अस्तिरूप चैतन्य और बोध - ज्ञान इन चार भावप्राणों का धारी हूँ। मैं यह आत्मभगवान राग-द्वेष और शरीर व वाणी, कर्म का धारक, यह तो उसमें गन्ध

में नहीं है। उसके व्यवहार में तो धारक उसका वह व्यवहार भी नहीं है। आहा...हा...! भगवान यह चैतन्यबोध आनन्द और सत्ता ऐसे प्राण का धारक है। वह एक ऐसे प्राण का धारक है, उसे भी व्यवहार और विकल्प कहते हैं। समझ में आया? ओ...हो...!

अथवा यह आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव का स्वामी है।... चार लेना है न! भगवान आत्मा...! चार-चार की बात चलती है। स्वयं प्रभु, अपना द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड; क्षेत्र अर्थात् उसकी अवगाहना-चौड़ाई; काल अर्थात् अवस्था; और भाव अर्थात् शक्ति - इन चार का यह स्वामी है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अतिरिक्त दूसरे किसी वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वामी यह नहीं है, मालिक नहीं है। समझ में आया?

शान्तरस का धारक प्रभु, शान्त... शान्त... अकेला उपशमरस, उसका धारक है - ऐसा विचारना यह भी भेद है। समझ में आया? भगवान तो

स्वरूप से अखण्ड एकरूप है, उसकी रुचि, ज्ञान और स्थिरता - यह साक्षात् मोक्ष का मार्ग है परन्तु इसमें जब नहीं रह सके, तब ऐसे विकल्प होते हैं। ऐसे भेद होते हैं कि मैं अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वामी हूँ; शरीर का, राग का (स्वामी नहीं) हूँ। मेरी निर्मल पर्याय का स्वामी, हाँ! राग का स्वामी नहीं, शरीर का, वाणी का, कर्म का, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, देश, राष्ट्र, धूल, यह राजा, नृपति... नरपति ऐसा कहते हैं न... नर-मनुष्य का पति-वति, धर्मी नहीं मानता। मैं कोई नर का पति नहीं हूँ, मैं तो अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का पति हूँ। आहा...हा...! मेरी स्वामित्व की चीज-वस्तु, उसकी चौड़ाई, उसकी अवस्था, उसकी शक्तियाँ, उनका मैं मालिक हूँ; इस प्रकार चार भेद से विचार करना, यह भी व्यवहार और विकल्प है। आहा...हा...! समझ में आया?

पाँच प्रकार से विचार करें तो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र और अनन्त वीर्य... लो, इस प्रकार लिया है। ऐसा स्वरूप है। भगवान आत्मा अनन्त दर्शनस्वरूप, अनन्त ज्ञानस्वरूप, क्षायिक समकितस्वरूप क्षायिक चारित्ररूप दो ऐसे लिये और अनन्त वीर्यस्वरूप। अथवा उसमें औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावरूप में परिणमन की शक्ति है... यह दूसरे पाँच लिये, दूसरे पाँच लिये। वे भी पाँच लिये और वह भी पाँच लिये। अथवा भगवान आत्मा उपशमस्वरूप से होने की शक्ति है, उपशमसमकित और उपशमचारित्र होने की शक्तिवाला है। क्षयोपशमदर्शन, ज्ञान और आनन्द के होनेवाली शक्तिवाला है। क्षायिकसमकितदर्शन और चारित्र के होने की शक्तिवाला है। औदयिक-उसमें योग्यता, पर्याय में राग होने की उसकी पर्याय में योग्यता है। समझ में आया? कर्म के कारण

नहीं, परपदार्थ के कारण नहीं।

कल बड़ा लेख आया है। कर्म के कारण विकार नहीं होता - ऐसा 'सोनगढ' कहता है। 'सोनगढवाले' ऐसा कहते हैं। 'सोनगढवाले!' कल ही आया था। क्या है? 'जैनदर्शन' में। इक्कीस बोल का उत्तर देते हैं। प्रभु! तू कहता है, वह तो सब कहते थे। 'संवत्' २००६ की साल में 'रामविजय' भी कहता था कि आठ कर्म के कारण भटकता है, ऐसा भगवान कहते हैं। तुम कहते हो कि नहीं, अपने अपराध से भटकता है। लो! उस दिन २००६ की साल में 'पालीताना' में विवाद उठा था, सोलह वर्ष पहले। समझ में आया? 'दामोदर सेठ' भी कहता था 'कर्म के कारण विकार होता है, अधिक तो तुम उनपचास प्रतिशत कर्म का रखो और इक्यावन प्रतिशत पुरुषार्थ का रखो - ऐसा कहते थे। यद्यपि दोनों का आधा-आधा रखना चाहिए परन्तु तुम्हारे बहुत जोर देना हो तो ऐसे इक्यावन रखो।' कहा नहीं, हराम है। एक भी प्रतिशत उसका कम नहीं और इसका भी कम नहीं। सौ के सौ प्रतिशत कर्म के कर्म में और विकार के विकार में है।

देखो, यहाँ शक्ति धारण करता है। ऐसा कहा न? औदयिकशक्ति धारण करने की शक्ति है, पर्याय में ऐसा होने की उसमें एक योग्यता है, त्रिकाल गुण नहीं परन्तु उस पर्याय की ऐसी शक्ति है, यह विचार करना। ऐसा विचार नहीं करना कि कर्म के कारण मुझे विकार होता है और अमुक के कारण ऐसा होता है। समझ में आया?

प्रश्न - प्रमाण ज्ञान करने के लिये कर्म लेना (- ऐसा कहना है)।

उत्तर - इसमें ही प्रमाण है। त्रिकाल सामान्य और विशेष पर्याय, इसका ज्ञान, वह प्रमाण है। उस ज्ञान में परवस्तु के प्रकाश का गुण स्व-पर

प्रकाश में आ जाता है। कहो, समझ में आया इसमें? यहाँ तो अपने अस्तित्व के अन्दर हो, उसकी बात है; दूसरे के अस्तित्व का भाग उसके घर रहा। आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं, और पारिणामिकभाव... यह त्रिकाल भाव। वे चार पर्याय हैं। - उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक वह निर्मल पर्याय है, उदय वह विकारी (पर्याय) है (और) पारिणामिक वह त्रिकाली भावस्वरूप है। ऐसे पाँच भावस्वरूप से विचार करना। एक को पाँच (भेदस्वरूप से) विचार करना, वह भी व्यवहार है। ओहो...! कहो, समझ में आया?

एक समय में कितने भाव होते हैं? प्रश्न हुआ था न? किसी के साथ प्रश्न हुआ था। पाँच (भाव) उससे कहते हैं कि तुमने निश्चित आत्मधर्म पढ़ा लगता है (तो वह कहता है) हाँ, भाई! आत्मधर्म पढ़ते हैं। हरिभाई ने वे नहीं डाले थे? बोल नहीं आये थे? एक बार डाले थे न? किसी ने कहा होगा कि पाँच भाव...। तुम्हारे में न हो। वह आत्मधर्म में से लिया होगा। यह तो होता है परन्तु उन्होंने वैसा छाँटकर रखी हुई बात उसमें होती ही नहीं। उनसे पढ़ा उसकी बात है न? उनसे पढ़ा उसमें से पाँच बोल कहे। ऐसा कहनेवाले ने आत्मधर्म पढ़ा, उसमें से पाँच बोल कहे न? तुम क्या समझे? पाँच भाव एक समय में कहे तब उसमें प्रश्न किया कि तुम कहाँ से बोले? आत्मधर्म बिना होता नहीं। तब कहा हाँ, मैंने आत्मधर्म में पढ़ा है। तुम समझे नहीं अभी? उन्होंने पूछा। उसने ऐसा जवाब दिया हाँ, आत्मधर्म पढ़ते हैं।

एक समय में पाँच भाव होते हैं। उपशमश्रेणी माँड़े क्षायिक समकित हो, उपशमभाव हो, क्षयोपशमभाव हो, उदयभाव और पारिणामिकभाव, पाँचों ही भाव एक समय में होते हैं। मांगीरामजी!

यह थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह बातें तो सम्प्रदाय में पहले से करते थे। (संवत्) १९७०-७१-७२, उसमें कोई नयी बात नहीं है। एक समय में पाँच भाव होते हैं, यह तो पहले श्वेताम्बर में भी था। समझ में आया? आता है, उन लोगों में आता है परन्तु वे कुछ अलग नहीं करते, समुच्चय पढ़ जाते हैं। बहुत सों का वांचन तो कितने ही को सभा में व्याख्यान देने की विधि कैसे सीखना, यह बहुत अंशों में होता है। यह कला आयी तो दीक्षा लेना सफल नहीं तो क्या दीक्षा लें? कोई गिनता नहीं, बैठे होंगे। मुँह के आगे ऊँचे बैठना यह सफल। धूल भी सफल नहीं है, सुन न अब, दूसरे को समझाना यह सब तो विकल्प है। बाहर निकले उसका फल क्या? बाहर निकले हों तो लोगों में ऐसा होता है कि आहा...हा...! महाराज त्यागी हुए परन्तु प्रसिद्धि प्राप्त की। हाँ, हमारे गाँव को प्रसिद्धि मिली। जिस गाँव के हों, उस गाँव के लोग ऐसा कहते हैं। यह मार्ग होगा? प्रसिद्धि तो आत्मा में अन्दर प्राप्त करना है, वह प्रसिद्धि है, आत्मप्रसिद्धि।

पाँच भाववाला आत्मा... है? एक समय में भी पाँच भाव होते हैं, हाँ! कहा न? ये पाँचों भाव आत्मा में ही होते हैं। कर्मों में और पुद्गल में तो एक पारिणामिकभाव और अधिक तो कर्म में उदय और पारिणामिक। आत्मा में ही पाँच भाव होते हैं। उसका विचार इसे करना।

आत्मा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु - इन पाँच परमेष्ठी पद का धारक है... पाँच परमेष्ठी के पद की पर्याय का धारक भगवान आत्मा है। मैं ही स्वयं अरहन्त की पर्याय का धरनेवाला मेरा तत्त्व है। वह शक्ति मुझ में पड़ी है। सिद्ध की पर्याय को धरने की मेरी शक्ति पड़ी है। आचार्य अर्थात् निर्मल गुण की पर्याय को आचार्य

कहते हैं, किसी विकल्प और बाहर के क्रियाकाण्ड को नहीं। आचार्य के पाँच - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, तपाचार निर्विकल्प जो आचार, उसकी पर्याय का पिण्ड तो मैं आत्मा हूँ। ऐसे ही उपाध्याय की निर्मल पर्याय और साधु की निर्मल पर्याय का धारक मैं आत्मा हूँ। इस प्रकार इसे आत्मा में पाँच पद का धारकरूप से विचार करना, वह व्यवहार है। वह भी व्यवहार है। कहो, समझ में आया? ओ...हो...! ठीक लिखावट की है। हाँ!

यह आत्मा नरक, पशु, देव, मनुष्य, सिद्ध गति इन पाँच गतियों में जाने की शक्ति रखता है। ऐसा विचार करना। गति की योग्यता भी मेरे कारण है, मोक्षगति की योग्यता भी मेरे कारण है। इस प्रकार अन्दर में अपनी सत्ता का इन पाँच प्रकार से विचार करना, यह एक स्वरूप में पाँच प्रकार का विचार वह व्यवहार है।

छह प्रकार से विचार... अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक (चारित्रस्वरूप है...) अथवा गुणस्वरूप है, ऐसे गुणस्वरूप है, ऐसे गुणस्वरूप है। अथवा पूरब, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर-नीचे... छह दिशा की बात करते हैं। छह यह लेना, छह यह लेना या छह दिशाएँ लेना - ऐसा कहते हैं। इन छह दिशाओं में जाने की शक्ति का धारक है। ऊर्ध्व, अधो, पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन छह में (जाने की) अपनी शक्ति रखता है; कर्म के कारण नहीं। कहो, समझ में आया? नरक में जाने की योग्यता भी अपनी पर्याय में स्वयं के कारण है। पशु में जाने की, निगोद में जाने की पर्याय की योग्यता स्वयं के कारण से है। अपने अस्तित्व में सत्ता की योग्यता से है। पर तो निमित्तमात्र वस्तु है। समझे? छह गुणस्वरूप अथवा छह दिशा में जाने की योग्यतावाला।

अथवा आत्मा छह गुणवाला है। वे अस्तित्व आदि लिये न! सामान्यगुण आते हैं न? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' में छह (गुण आते हैं)। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, इन छह सम्यक् गुणों का धारी है, इन छह सच्चे गुणों का धारी है। समझ में आया?

सात प्रकार का विचार करे तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञानचेतना, अनन्त वीर्य... देखो, पहले ज्ञान तो डाला है।... क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र इन सात गुणस्वरूप है।... अथवा सात भंगस्वरूप है - ऐसा विचार करना। सप्तभंगी ली है। स्यात् स्व से अस्ति, स्यात् पर से नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य। सात भंग से - भेद से आत्मा का विचार करना, वह भी एक ज्ञान की विकल्प की दशा है। ज्ञान में उस प्रकार की (दशा) है। इस प्रकार विचारना भी धरता है, उसमें है। ये सातों सप्त भंगी आत्मा में है, ऐसा विचार करना। पर के कारण वे नहीं हैं, समझ में आया? अपनी अस्ति, अपने से है और अपना पर से नहीं होनापना भी अपने से है - ऐसा भगवान आत्मा को विचार करना...।

अथवा इस जीव के कारण जीव-अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वों की व्यवस्था होती है।... लो, उसकी दशा में सात तत्त्व होते हैं न? ऐसा विचारना। आत्मा, सात नय से विचारना। सात नय से (विचारना) ठीक है। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ ऐसी थोड़ी सूक्ष्म बात है।

नव प्रकार से विचार करें तो आत्मा नव केवल लब्धिरूप है। उसमें मात्र आठ नहीं आया, आठ है नहीं। दो, तीन, चार, पाँच, छह, नौ, सात,

ऐसे बोल लिये हैं। समझ में आया? नौ प्रकार से विचार करे तो केवली भगवान को नवलब्धि होती है, उस रूप से मैं हूँ। अभी ऐसा मैं हूँ, ऐसा, हाँ! अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, इस लब्धि की पर्याय की प्राप्ति को योग्य मैं ही स्वयं आत्मा हूँ। समझ में आया? स्वयं प्राप्ति के योग्य है न? दूसरा कौन दे दे? ऐसा है। समझ में आया? नौ प्रकार - अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग... एक बार भोगना, बारम्बार भोगना, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्ररूप... लो यह नौ हुए। नवलब्धि का धारक मैं हूँ। यह सब आँकड़े याद रहें ऐसे नहीं हैं परन्तु उनमें से भाव तो याद रहता है न?

मुमुक्षु : आँकड़े का क्या काम है?

उत्तर : आँकड़े का किसलिए करे? बात ठीक कहते हैं। आँकड़े का काम है या भाव का काम है?

अथवा यह आत्मा पुण्य-पापसहित सात तत्त्व ऐसे नौ पदार्थों में स्थित होता है। लो! है न? पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष की पर्याय में टिकनेवाला आत्मा है या नहीं? आहा...हा...! ठीक-ठीक विचार किया है। यह बहुत आता है। 'पञ्चास्तिकाय' में आता है न? एकरूप से, दोरूप से, तीनरूप से, चाररूप से आता है। उसमें भी आता है, उन लोगों में भी आता है। 'देवाधिगम' में सब भंग श्वेताम्बर में आते हैं।

जीव की अपेक्षा से नौ पदार्थ का विचार है। इस प्रकार आत्मा को अनेक गुण तथा स्वभाववाला विचारना, जिससे वस्तु का विचार समभाव से होता है। राग, द्वेष और सांसारिक विकल्प जीते जा सकते हैं। उसमें दूसरे का विचार नहीं है इसलिए उसमें राग की तीव्रता नहीं आती।

गुणों की भावना करते-करते ही स्वानुभव की शक्ति आती है... इन गुणों का बहुमान करते-करते... भले ही विकल्प है, उसमें से हटकर अन्दर में एकाकार हो, उसे अन्तर का अनुभव कहा जाता है। विकल्परहित भाव में आना वह ही स्वानुभव है। लो! भेदरहित, विचाररहित होकर अन्दर में अवलम्बन करना, विकल्परहित अनुभव है। अन्यभेद है वह तो विकल्प है।

'समयसार' का दृष्टान्त दिया है। देखो, शक्ति का वर्णन है सही न, ठीक रखा है। सैंतालीस शक्तियाँ। यह आत्मा अनेक प्रकार की शक्तियों का समुदाय है। एक-एक नय से एक-एक गुण की पर्याय अथवा शक्ति का विचार करने से आत्मा का खण्डरूप विचार होता है। देखो, एक-एक गुण का विचार करने से एक-एक गुणरूप में विकल्प उत्पन्न होता है। इसलिए खण्डरूप विचार छोड़कर मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि यह अखण्ड है तो भी अनेक भेदवाला है, एक है... अन्दर भले ही भेद है, भेद है तथापि दृष्टि में भेद नहीं है। एक है परम शान्त है निश्चय है, चैतन्यमयी ज्योतिस्वरूप है। लो, एक गाथा में पचास मिनट गये। आँकड़े अधिक थे न? एकदम छोड़ दे ऐसे नहीं थे।

मुमुक्षु : पाँच नहीं लिया?

उत्तर : पाँच कहा न! दो-तीन बार कहा। चाहे जहाँ से लो, पाँच दो बार आता है। पाँच भाववाला लो, पाँच गुणवाला लो, दो बात में से चाहे जो लो। यहाँ भी दो बार आया है। एक बार पञ्च और फिर पञ्च उसमें चाहे जो पाँच बोल लो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य... अब, ७७...!



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-१५१ पर भाववाही
प्रवचन, दि. ४-२-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-६५७ (विषय : मार्गदर्शन)

अतः श्रीमद्जी ऐसा लिखते हैं कि, कोई बाहुबलसे स्वयंभूरमण समुद्र तिर जाये अथवा अकेला दस हजार सुभट को, सैनिक को नहीं, सुभट को—सोल्जर को हराये उससे, दर्शनमोह का नाश करे उसकी शक्ति विशेष है। ऐसा लिया है। उसकी शक्ति विशेष है। उसे जो अंतरंग आत्मशक्ति का विकास हुआ है, वह अनंत शक्ति के पिंड के आधार से किया है। उसका आधार भगवान है—अपना निज प्रभु है।

कहते हैं कि, उसका अनुभव का आस्वाद, आनंदअमृत का आस्वाद आये बिना अशुद्धभाव छूटते नहीं। 'और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना स्वरूप का अनुभव नहीं होता।' स्वरूप का अनुभव हो और वह अशुद्ध संस्कार ज्यों के त्यों उसका मूल साबूत रहे, ऐसी दो बात नहीं बनती।

कोई ऐसा कहे कि हमें आत्मा का आनन्द तो आ गया है। भले ही अन्दर में दूसरी परिस्थिति का फेरफार नहीं हुआ हो परन्तु हमे आनन्द आ गया है न। कहते हैं, ऐसा नहीं बनता। मिथ्यात्व और अज्ञान मूलमें-से अशुद्धता के संस्कार नाश करता है, धो डालता है, मूलमें-से क्षय

आनंदकंद प्रभुके आस्वादन बिना अशुद्धभाव नहीं छूटते और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना स्वरूप का अनुभव नहीं होता। रागसे एकताके संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता और शुद्धस्वरूप का अनुभव हुए बिना रागसे एकताके संस्कार नहीं छूटते। महिमावन्त प्रभुकी ऐसी महिमा भासित हुए बिना तुच्छता और पामरता के संस्कार नहीं छूटते और तुच्छता तथा पामरता के संस्कार छूटे बिना महिमावन्त प्रभुकी महिमा नहीं होती। अतः अशुद्धताका व्यय एवम् शुद्धताकी उत्पत्तिका एक ही काल है। १६७.

करता है और स्वरूप का अनुभव होता है, ऐसे ही स्वरूप का अनुभव नहीं होता।

'अशुद्ध संस्कार छूटे बिना स्वरूप का अनुभव नहीं होता।' अर्थात् स्वरूप का अनुभव होता है तब मूलमें-से अशुद्धता के संस्कार साफ हो जाते हैं। जिसने निज शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव किया उसने तीन लोक के सर्व प्रकार के वैभव का एक बार त्याग कर दिया। 'जगत इष्ट नहीं आत्म से'। यह प्रकार उसके परिणाम में आया है कि पूरे जगत की समस्त प्रकार की विधविधता के जितने भी विविध विषय हैं, वह कोई इस आत्मा से इष्ट नहीं है। मेरे स्वरूप में जो सुख एवं आनन्द है, वही

मुझे इष्ट है। भोगने लायक तो आनन्द और सुख है न? सुख, शांति, आनंद इत्यादि भोगने लायक परिणाम हैं। उससे कुछ भी इष्ट नहीं है। जगत की कोई संपत्ति, जगत का कोई वैभव, जगत का कोई विषय, स्वयं की निज शांति, सुख एवं आनंद-से अधिक नहीं है। ऐसा महाविवेक जिसे उत्पन्न हुआ है वह जीव, सर्व प्रकार से लक्ष्य छोड़कर, सब जगह से परिणाम को मोड़कर, एक शुद्धात्मा में केन्द्रित होता है तब उसे अन्दर में जो आत्मिक सुख एवं आत्मिक आनन्द जो अमृतस्वरूप रहा है, वह आता है। जब तक जीव ऐसे स्वयं के आनंदअमृत स्वरूप को अधिकता नहीं देता, तब तक उसे बाहर की अधिकता छूटती नहीं। और बाहर की अधिकता को जब तक चिपका रहता है, तब तक वह अपने स्वरूप को अधिक नहीं गिनता है। दोनों परस्पर विरुद्ध होने-से एकसाथ रह नहीं सकते। यह परिस्थिति है।

मुमुक्षु :— संस्कार शब्द, अशुद्ध संस्कार...

पूज्य भाईश्री :— अशुद्ध संस्कार वह मूल है, मूल लेना है। ऐसे दिखाई दे कि त्याग किया है इसलिये विषय को ग्रहण नहीं करता। जंगलवासी हुआ है इसलिये लोगोंके-जगत के जीवों के संसर्ग में नहीं है, असंगदशा में है। जीव जंगल में असंगदशा में जाकर रहे और कोई पंचेन्द्रिय के विषय का ग्रहण उसे न हो तो, उसे उस प्रकार के परिणाम प्रत्यक्षरूप से दिखाई नहीं देते। अशुद्ध परिणाम, लेकिन जब तक अन्दर में परिपूर्ण शुद्ध, एकान्त शुद्ध जो शुद्धात्म स्वरूप है, सर्वांग शुद्ध अनादिअनन्त जो शुद्ध है, ऐसे जीवस्वभाव का अनुभव करके आनंदअमृत जब तक उसने वेदा नहीं है, अनुभव किया उसका प्रगट लक्षण यह है कि उसे आनंदअमृत का, स्वरूप के आनंदअमृत का उसे स्वाद और वेदन होता है, जब तक वह इस प्रकार में नहीं आता है, तब तक उसे वास्तव में मूलमें-से अशुद्धता के संस्कार नहीं गये हैं। परिणाम प्रगटरूप से भले ही दिखते न हो, परन्तु उसे कषाय की बहुत मन्दता दिखती हो।

यह द्रव्यलिंगी का जो शास्त्र में दृष्टान्त आता है, उसके कषाय की मंदता का सहस्रांश भी वर्तमान में किसी

को दिखाई नहीं देता है। शास्त्र में, जो जैन की दीक्षा अंगीकार किये हुए द्रव्यलिंगी साधु, भावलिंगी साधु में नहीं यानि भाव से साधु नहीं है, द्रव्य-से साधु हुआ है, उसकी कषाय की मंदता इतनी है कि वर्तमान में किसी को उसका सहस्रांश भी दिखने में नहीं आये, जो शास्त्रोक्त है, फिर भी उसको अनंत संसार कहा है। अनंत संसारी कहा है। उसे संसारतत्त्व ही प्रवचनसार में कहा है। प्रवचनसार में उसे संसारतत्त्व कहा है। यह तो समर्थ से समर्थ दृष्टान्त है। उसके अन्दर सब भेद आ गये।

तब यहाँ कहते हैं कि वह संसारतत्त्व है उसका मूल कौन काटता है? कि जो शुद्धात्मअनुभव है, प्रथम सम्यग्दर्शन के काल में जो आनन्द का अनुभव होता है, वह मूलमें-से उसके संस्कार को काटता है। यह परिस्थिति है।

मुमुक्षु :— ...

पूज्य भाईश्री :— दर्शनमोह का अभाव हो उसे ही चारित्रमोह की अशांति है। दर्शनमोह का सद्भाव है उसमें भले ही बहुत शांति दिखती हो, तो भी अशांति ज्यों की त्यों पड़ी है, अनंत अशांति अभी ज्यों की त्यों पड़ी है। इसीलिये तो दर्शनमोह के सद्भाव में जो भी अशुद्ध परिणाम होते हैं उसे अनंतानुबंध के परिणाम कहने में आया है। अनंत अनुबंध करता है। द्रव्य से अनुबंध करता है तो भाव से भी उसमें अनंतता रही है, तो द्रव्य से अनंत अनुबंध है। जो अनुबंध द्रव्यकर्म का है वह, ये सूचित करता है कि भाव में भी अनंत कषाय पड़ा है। इसलिये द्रव्यलिंगी को शांति बहुत दिखती है। ऐसी शांति वर्तमान में किसी को प्रगट दिखने में नहीं आये। उसका सहस्रांश भी न दिखे। लेकिन वह शांति नहीं है। वहाँ अनंतानुबंधी अनंत अशांति पड़ी है। परन्तु अन्दर में दबी हुई है। ... अग्नि की भाँति वह दबी पड़ी है।

कहते हैं, १६७ बोल है। 'अशुद्ध संस्कार छूटे बिना स्वरूप का अनुभव नहीं होता।' अथवा दोनों एक समय में होते हैं। जब आनंदरसकंद प्रभु का अमृत

का आस्वाद आता है, तब अशुद्ध भाव मूलमें-से छूटते हैं और अशुद्धभाव मूलमें-से छूटे नहीं और आनंदअमृत का अनुभव हो, ऐसा कभी बनता नहीं। दोनों एक समय में होता है। एक का व्यय और दूसरे का उत्पाद एक ही समय में है। दो परिणाम हैं, उसमें एक की व्यय की प्रक्रिया है, दूसरे की उत्पाद की प्रक्रिया है। दोनों एक ही समय में है।

मुमुक्षु :— इसलिये पुरुषार्थ स्वरूप का रस...

पूज्य भाईश्री :— स्वरूप का रस प्रगट करने का पुरुषार्थ करना। उसमें सहज ही पररस टूटता है। अथवा दूसरी बात पूछते हैं कि, पररस टूटने के पुरुषार्थ में आप क्या करोगे? कि परपदार्थ का त्याग करेंगे। दूसरा क्या करोगे? परपदार्थ का त्याग करोगे। लेकिन परपदार्थ का त्याग होने-से परपदार्थ प्रति के परिणाम कहीं उत्पन्न ही न हो ऐसा तो है नहीं। वह तो निमित्त के सद्भाव में जैसे बाह्य परिणाम उत्पन्न होते हैं, वैसे बाह्य निमित्त के असद्भाव में भी परिणाम की उत्पत्ति तो हो सकती है। क्योंकि परिणाम को, जो विकारी परिणाम को उत्पन्न होना है, उसे बाहर में नोकर्म की आवश्यकता नहीं है कि वह हो तो हो, और नहीं हो तो न हो। वह कर्मोदय से सम्बन्ध रखता है। जीव का विभाव परिणाम कर्म के उदय के साथ जुड़ता है। अन्दर का वह सूक्ष्म जुड़ान देख नहीं सकते। क्योंकि कर्म सूक्ष्म पर्यायरूप परिणामित परमाणु हैं। अतः वह कोई इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं होते। इन्द्रियज्ञान तो स्थूल ज्ञान है कि जिसमें स्थूल पर्याय को प्राप्त हो ऐसे ही परमाणुओं की पर्याय ज्ञान में आ सकती है। सूक्ष्म पर्याय को प्राप्त हो ऐसे परमाणु ज्ञान में नहीं आते। वह इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं होता। वह मोटा स्थूल ज्ञान है। उसके लिये बारीक हथियार चाहिये। वैसे वहाँ ज्ञान मोटा स्थूल है।

परन्तु वास्तव में विभाव का जुड़ान अन्दर में कर्म के विपाक के साथ होता है। जो कर्म के उदय का विपाक आया, सत्ता में तो वह कर्म बहुत समय से पड़े होते हैं, लेकिन जब वह विपाक परिपक्व होता है तब उसका जो

स्वाद है—क्रोध प्रकृति का स्वाद, लोभ प्रकृति का स्वाद, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि प्रकृति का जो स्वाद है, वह स्वाद उसके अन्दर ऐसा आता है कि जैसा भाव होता है वैसा है। जैसे मिर्ची की चरपराई ज्ञात होती है वैसे। वैसा वह स्वाद आता है। वह स्वाद वहाँ प्रगट होता है।

जैसे दियासलाई में अग्नि थी वह प्रगट हुई, जली, वैसे वहाँ विपाक आता है तब उसका स्वाद पकता है। आम जब पकता है तब मीठे रस का होता है न? खट्टे में मीठा रस नहीं होता। उस विपाक-काल में जीव यदि अपने आनंदअमृत के स्वाद में अपने उपयोग से जुड़ान नहीं रखता है अथवा परिणति से उसमें जुड़ा न रहे, तो वह विपाक में एकाकार होता है। बाहर में नोकर्मरूप संयोग का जुड़ान हो या न हो, उसके साथ कोई नियम नहीं है। वह तो पूर्व कर्म जब तक उसने नष्ट नहीं किये हैं तब तक उसका उदय चालू ही है। सर्व जीवों को आठों कर्मोंका उदय निरंतर वर्तता है। सर्व संसारी जीवों को आठों कर्म का उदय एक समय खाली छोड़े बिना निरंतर होता ही है।

... परिणाम से उसका सम्बन्ध न छोड़े और वह सम्बन्ध के परिणाम, परिणाम का स्वभाव सम्बन्ध करने का है, वह सम्बन्ध करने का स्वभाव निजात्म स्वरूप में सम्बन्ध न करे, वह परिणाम पर के साथ सम्बन्ध करे, उदय के साथ सम्बन्ध करे तो वह विकारत्व को प्राप्त होता है। यदि अविकारी स्वरूप के साथ वह परिणाम सम्बन्ध करे तो अविकारत्व को प्राप्त होता है। बस! यह उसका परिणामस्वभाव है। सम्बन्ध करना और जिसके साथ सम्बन्ध हो उसमें तदाकार हो जाना, वह उसका-परिणाम का स्वभाव है। वह परिणाम धर्म है। परिणाम तो अपने धर्म से वर्तता है।

इसलिये उसको यह सब ज्ञान कराते हैं कि देख भाई! तू एक आत्मा चैतन्य नामक पदार्थ है। तेरे परिणाम का धर्म ऐसा है कि यदि तू अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध करेगा तो वहाँ तदाकार होगा। उस आकाररूप तेरा परिणाम होगा। तदाकार यानी ऐसा आकार। यदि उसी परिणाम को

तू निज स्वरूप में लगायेगा तो वहाँ तदाकार होंगे। और निज स्वरूप कैसा है? कि त्रिकाल शुद्ध है, निर्दोष है, अकषायस्वरूप है, आनंदअमृत शांति से भरा है। यह स्वपर पदार्थ, दोनों का ज्ञान कराया। उसमें-से विवेकी जीव विवेक करता है कि अरे..! मुझे शांति और सुख चाहिये। बाहर में भी अन्य विषय में, मैं सुख एवं शांति के लिये परिणाम लगाता हूँ परन्तु तृप्ति नहीं होती है और शांति नहीं मिलती है। तो अब मेरे स्वरूप में लगाऊँ तो मुझे तृप्ति एवं शांति मिलेगी। इस प्रकार उसे इस बात और इस विषय पर विश्वास आता है।

विश्वास आने का कारण यह है कि कहनेवाले उस रूप होकर कहते हैं। आपसपुरुष कहा है न? १८ दोष रहित आपस का स्वरूप है। आपस यानी विश्वसनीय, जो विश्वास करने योग्य है, उसे आपस कहने में आता है। ऐसे जो सर्वज्ञ वीतराग तीर्थकरदेव जो परिपूर्ण शुद्ध दशा को प्राप्त हुए हैं वे शुद्ध होकर, शांत होकर, आनंदित होकर रहते हैं। इसलिये उनके वचन पर विश्वास किया जाता है। यहाँ जुडान करने से दुःख होता है और यहाँ जुडान करने से सुख होता है। इस प्रकार, उस रूप होकर उन्होंने वह कहा है। यूँ ही नहीं कह दिया, परन्तु उस रूप होकर ऐसा कहा है। ऐसा ही वीतरागी गुरुओं ने उस रूप होकर कहा। फिर सम्यग्दृष्टि कहते हैं वह तो उनके एजन्ट हैं-आडतिया है। गुरुदेवश्री कहते थे न? कि भगवान के आडतिया होकर यह बात आती है। उस गुरु को भी आडतिया कहते हैं, सम्यग्दृष्टि को भी आडतिया कहते हैं। उनका माल बेचते हैं, उनका माल है यह। वहाँ-से मूल जो ... धर्म का मूल सर्वज्ञ हैं।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने तो बहुत ही शुरुआत में २० वें वर्ष में यह बात लिखी है कि धर्म का मूल सर्वज्ञ हैं और जिसे धर्म प्रणीत करना हो, प्रतिपादन करना हो उसे सर्वज्ञता से धर्म का प्रतिपादन करना। सर्वज्ञ को बीच में नहीं लाना, वह बात नहीं हो सकती। प्रथम सर्वज्ञ को स्थापित करना चाहिये के ऐसा तत्त्व निरूपित हुआ है, उसके कहनेवाले कौन हैं? कि परिपूर्ण निर्दोष परमात्मा हैं

उन्होंने यह बात कही है। निर्दोषतामें-से आई हुई बात प्रमाणिक है, सदोषतामें-से आई हुई बात प्रमाणिक नहीं है। यह मूल है इस विषय का।

वह कहते हैं कि, 'अशुद्ध संस्कार छूटे बिना स्वरूप का अनुभव नहीं होता।' और आनंदरसकंद प्रभु का आनंदअमृत का आस्वाद आये बिना अशुद्ध संस्कार नहीं छूटते। 'रागसे एकताके संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता...' अब वही बात पुनः कहते हैं कि अशुद्ध संस्कार छूटा, अशुद्ध भाव छूटा यानी क्या छूटा? की राग की एकता टूटी। राग नहीं टूटा अभी। सम्यग्दृष्टि को, छद्मस्थ जीव को कब तक रहता है? कि परिपूर्ण वीतराग न हो तब तक आंशिक राग है। शुद्धता भी प्रगट हुई है इसलिये उसके परिणामन में पूरी पूरी अशुद्धता नहीं है। आंशिक शुद्धता और आंशिक अशुद्धता ऐसी साधक की स्थिति चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यंत है। उसमें चतुर्थ, पंचम एवं छठवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक इच्छा होती है, और उसे समझ सके ऐसा राग होता है। अपना राग स्वयं ज्ञान में पकड़ सके ऐसा राग होता है। उसे सविकल्प राग, इच्छावाला राग, बुद्धिपूर्वक का राग कहने में आता है। और सप्तम गुणस्थान से ऐसा राग बंद होता है। सातवे-से बारहवे तक राग होता है परन्तु वह अबुद्धिपूर्वक का होता है।

शुद्धोपयोग भी होता है और राग भी अबुद्धिपूर्वक का होता है। वह राग, उसे तेरहवाँ गुणस्थान अरिहंतदशा प्राप्त होनेपर सर्वांशरूप से नाश हो जाता है। अंत में जो यथाख्यात चारित्र प्रगट हुआ तब बारहवे में राग जाता है लेकिन अभी वहाँ ज्ञान पूर्ण नहीं हुआ होनेसे, ज्ञान अनंतवे भाग में, केवलज्ञान से भी अनंतवे भाग में ज्ञान होनेसे, वहाँ अभी पूर्ण अरिहंतदशा कहने में नहीं आती। वहाँ, जैसी सिद्ध की दशा है, जो चार अघाति नष्ट होकर सिद्ध परमात्मा की जैसी दशा होती है ऐसी यहाँ उस अपेक्षा से अरिहंत की दशा है। असिद्धत्व है वह अघाति बाकी रहे हैं, कंपन्न रहा है उसके कारण से है। लेकिन उसमें भाव अशुद्धता नहीं है, भाव से उसमें अशुद्धता नहीं

है। उसमें बारहवे गुणस्थान में ज्ञान अल्प रहा है, चारित्र पूर्ण हो गया, राग गया। राग की अशुद्धता गई लेकिन ज्ञान की अशुद्धता नहीं गई है। ठीक! बारहवा गुणस्थान लो तो वहाँ क्षय हो गया। सर्व प्रकार का जो रागादि भाव है वह क्षय हो गये और बारहवे गुणस्थानवाले साधक को वीतराग कहने में आता है। यथाख्यातचारित्र प्रगट हो गया वहाँ। पूर्ण शुद्ध चारित्र।

मुमुक्षु :- ज्ञान पूर्ण नहीं हुआ।

पूज्य भाईश्री :- परन्तु ज्ञान पूर्ण नहीं हुआ तो क्या बाकी रहा? कि ज्ञान की अशुद्धता वहाँ रही है। वह भी भाव-अशुद्धता है। तेरहवे गुणस्थान में उस प्रकार की भी अशुद्धता नहीं रहती। नहीं तो पुरुषार्थ वहाँ पूर्ण है, चारित्र पूर्ण है, आनंद पूर्ण है लेकिन ज्ञान अभी अज्ञानरूप है, ज्ञान अज्ञानरूप है। अज्ञान कहने में आता है। ज्ञान का अभाव वह अज्ञान। केवलज्ञान नहीं है न। ऐसा।

क्या कहते हैं? 'रागसे एकताके संस्कार छूटे बिना...' नीचे चतुर्थ गुणस्थान में प्रवेश मिलता है, चतुर्थ गुणस्थान को—सम्यग्दृष्टिपने को जीव प्राप्त होता है, तब उसे राग की एकता टूटती है। राग बाकी रहता है लेकिन राग की एकता टूटती है। राग का एकत्व है, एकत्वबुद्धि है वह एकत्वबुद्धि मूलमें-से टूटती है, इसलिये उसके संस्कार भी एकत्व के नहीं रहते। ऐसा हुए बिना शुद्ध स्वरूप का जो सम्यग्दर्शन में जो अनुभव होता है, वह नहीं होता। राग की एकता टूटकर अनुभव होता है। राग की भी एकता रहे और शुद्धात्मा में भी एकता हो ऐसी परस्पर दो विरुद्ध विषय में एकता नहीं होती। परस्पर दो विरुद्ध विषय में एकता कभी नहीं होती। अतः राग की एकता टूटे तो शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव हो तो राग की एकता टूटे, टूटे और टूटे ही।

यह एक बहुत बड़ी बात है। मोक्षमार्ग के प्रकरण में यह जघन्य दशा होनेपर भी, शुरुआत की दशा है न? वह जघन्य दशा होनेपर भी, फिर पाँचवा-छठवा गुणस्थान वह उसकी—साधक की मध्यम दशा है और ऊपर के

गुणस्थान जिसमें शुक्लध्यान की श्रेणी मांडते हैं, वह उसके साधक दशा के उत्कृष्ट परिणाम हैं। फिर भी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के संसारमार्ग की स्थिति बदल जाती है और मोक्षमार्ग की परिणति की स्थिति शुरू होती है। इस प्रकार परिणाम की पूरी दिशा बदल जाती है और उसके परिभ्रमण का अंत आता है। यह प्रकार देखकर यहाँ की जो जघन्य दशा है उसे भी शास्त्र में बहुत महत्त्व देने में आया है। बहुत बड़ा महत्त्व देने में आया है।

प्रथम में प्रथम कोई भी जीव को, जिसे आत्मा का हित—कल्याण करना है, हित करना है अथवा कल्याण करना है उसे अपने ज्ञानबल से और पुरुषार्थबल से शुद्ध स्वरूप का अनुभव करके राग की एकता तोड़ने में वह बल लगाना चाहिये। कोई अन्य जगह शक्ति का अपव्यय नहीं करके, इस एक जगह यदि उसका सद्व्यय करने में आये तो उसके संसार का नाश हो। और नहीं तो कोई भी प्रकार से उसका कल्याण होता नहीं, उसका संसार मिटता नहीं। बस! यह एक महत्त्व की बात है वह इतनी है यहाँ।

'रागसे एकताके संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता और शुद्धस्वरूप का अनुभव हुए बिना रागसे एकताके संस्कार नहीं छूटते।' अनेकांत कहकर बात को दोनों पहलू से स्पष्ट की है। कोई भी जीव ऐसा कहे कि अब मुझे फलाना राग नहीं है, इस राग को तो नष्ट कर दिया है। अब किसी भी प्रकार से वह राग मुझे नहीं होगा। उसको ऐसा कहते हैं कि, भाई! तुझे शुद्ध स्वरूप का अनुभव हुआ है? अन्दर से आनंदरसकंद प्रभु आत्मा है उसका आस्वाद जो आनंदअमृत का आस्वाद है वह आया है? यदि आया हो तो बात सच्ची है। यह उसका लक्षण है। और नहीं तो भले तुझे वह राग अभी उत्पन्न होता हुआ न दिखाई दे तो भी अन्दर में रह गया है। कब उत्पन्न होगा इसकी तुझे खबर नहीं रहेगी।

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा मंगल वाणी-सी.डी.६-B

मुमुक्षु :- हे माताजी! वचनमृत में आता है कि ज्ञानी को दृष्टि के साथ ज्ञान सब विवेक करता है। तो ज्ञान कैसे विवेक करता है, यह आप कृपा करके समझाईये।

समाधान :- दृष्टि का स्वरूप तो गुरुदेवने बहुत समझाया है। सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं, गुरुदेवने सब स्पष्ट करके समझाया है। दृष्टि यानी जिसने आत्मा का आश्रय ग्रहण किया है। उसमें जो अधूरे भाव, विभावभाव आदि सबको गौण करके, एक आत्मा को जो ग्रहण करता है, परमपारिणामिकभावस्वरूप आत्मा अनादिअनन्त है उसे जो ग्रहण करता है, वह दृष्टि बस, आत्मा पर ही रहती है।

दृष्टि तो सब पर्यायों को, गौण करती है। लेकिन साथ में रहा जो ज्ञान है वह ज्ञान सबका विवेक करता है कि पर्याय में विभाव है, यह अधूरी पर्याय है, यह पूरी पर्याय है, यह साधकदशा है, यह सब विवेक ज्ञान करता है और दृष्टि ग्रहण करती है। लेकिन दृष्टि के साथ ज्ञान होता ही है। यदि दृष्टि के साथ ज्ञान नहीं हो तो वह दृष्टि यथार्थ नहीं है। दृष्टि और ज्ञान दोनों साथ ही होते हैं। सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ ही रहे हैं, साधकदशा में। पर्याय अधूरी है, यह साधकदशा है, सम्यग्दर्शन के बाद आगे जाना है, अन्दर लीनता करनी है, अभी चतुर्थ, पंचम भूमिका का सब विवेक ज्ञान में होता है। और दृष्टि एक चैतन्य पर ही, एक मूल वस्तु पर ही स्थापित रहती है। अन्दर स्वानुभूति में भी दृष्टि एक आत्मा पर ही रहती है। इसप्रकार दृष्टि और ज्ञान साथ ही रहे हैं।

ज्ञान मुख्य, दर्शन-ज्ञान मुख्य हो जिसमें वही मुक्ति का मार्ग है। दर्शन-ज्ञान मुख्य हो उसके साथ चारित्र भी आता है। बाहर इतनी क्रिया कर ली या ये सब कर लिया,

तो मुक्ति का मार्ग तो ऐसा नहीं है। जहाँ दर्शन और ज्ञान की मुख्यता होती है वहीं मुक्ति का मार्ग प्रारंभ होता है। मुक्ति का मार्ग बाहरसे प्रारंभ नहीं होता कि थोड़ी क्रिया कर ली या थोड़ा त्याग कर लिया, ऐसा मुक्ति का मार्ग शुरू नहीं होता। मुक्ति का मार्ग अन्दर दर्शन और ज्ञानसे ही शुरू होता है। वही मुक्ति का मार्ग है। सम्यग्दर्शन होता है तबसे। दूसरा कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। दोनों साथ ही रहे हैं।

ऐसा मुक्ति का मार्ग गृहस्थाश्रम में भी होता है। भरत चक्रवर्ती गृहस्थाश्रम में थे तो भी अन्दर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान था, आंशिक लीनता भी साथ में थी।

लेकिन वह चारित्रदशा नहीं थी, स्वरूप रमणता उनको साथ थी। ज्ञायक की धारा साथ ही साथ रहती थी। ज्ञाताधारा उसे साथ ही रहती थी। भेदज्ञान की धारा चालू ही रहती थी। चाहे जो भी विभावपर्याय हो, प्रत्येक शुभाशुभ भावों में ज्ञायकधारा भिन्न ही रहती थी। भेदज्ञान की धारा और दृष्टि द्रव्य पर रहती थी। वही मुक्ति का मार्ग है। दर्शन, ज्ञान पवित्र आश्रम है। दर्शन, ज्ञान की जिसमें मुख्यता है, वही पवित्र आश्रम है और उससे ही साम्य की, मुक्ति की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन ही मुख्य है। वही मुक्ति का मार्ग है। गुरुदेवने सब स्पष्ट किया है।

मुमुक्षु :- हे पूज्य भगवती माता! धन्यावतार! हम बालकों को तारनेवाली मुमुक्षुओं का हृदय भीगा हुआ रहना चाहिये, इसके लिये थोड़ा-सा स्पष्टीकरण कीजिये।

समाधान :- क्या कहते हैं?

मुमुक्षु :- मुमुक्षु का हृदय भीगा हुआ रहना चाहिये, उस पर..



समाधान :- मुमुक्षु का हृदय तो भीगा हुआ ही रहना चाहिये। क्योंकि आत्मा है, यह विभाव अपना स्वभाव नहीं है और आत्मा में ही सब भरा है। उसकी ही महिमा लगनी चाहिये। इस विभावसे उसे विरक्ति-वैराग्य अन्दरसे आना चाहिये। आत्मा का कल्याण कैसे हो? यह भवभ्रमण कैसे कटे? अन्दर सुख की प्राप्ति कैसे हो? इसप्रकार का उसे अन्दर वैराग्य, महिमा सब रहना चाहिये और तत्त्व का निर्णय भी साथ में होना चाहिये। भीगा हुआ हृदय होना चाहिये। मुमुक्षु का कार्य जो मुमुक्षु को शोभा दे ऐसा ही उसका कार्य होता है। मुमुक्षुता के बाहर का उसका कार्य नहीं होता। अन्दर उसका हृदय भीगा हुआ होना चाहिये। उसे खटक रहनी चाहिये कि आत्मा का स्वरूप कैसे समझ में आये? अन्दर ऐसी खटक रहनी चाहिये। कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष। मोक्ष की अभिलाषा होनी चाहिये। उसे तीव्र उस प्रकार के कषाय, उस प्रकार का रस, अनन्तानुबंधी का रस ऐसा तीव्र नहीं होता, अंतरसे आत्मा की ओर का रस और उग्रता होनी चाहिये। आत्मा की ही लगनी, आत्मा की ही महिमा, यह अंतरसे ही होना चाहिये।

मुमुक्षु :- कृपालुदेव में आता है, वचनमृत वीतरागना परमशांतरस मूल, औषध जे भवरोगना कायरने प्रतिकूल। वचनमृत वीतरागना परमशांतरस मूल, कायरने प्रतिकूल। कायर को क्या कायरता रह जाती है कि प्रतिकूल पड़ते हैं?

समाधान :- वचनमृत वीतरागना, परमशांतरस मूल। शांतरस जिसमें भरा है। वीतराग के वचन ऐसे हैं कि शांतरससे भरपूर है और अंतर में शांतरस प्रगट हो ऐसे हैं। औषध जे भवरोगना। वह औषध है। भवरोग की कोई औषधि हो तो वह वीतराग की वाणी है, गुरुदेव की वाणी है वह औषधिरूप है। लेकिन कायर को प्रतिकूल है। जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है, जिसमें कायरता भरी है, जिसे आत्मा की लगनी लगी नहीं है उसे सब प्रतिकूल लगता है। क्योंकि अंतर आत्मा में तू लीन हो जा, आत्मा में ही सबकुछ है, बाहर का छोड़ना कठिन पड़ता है, बाह्य रस जिसे है, संसार का रस लगा है, विभाव का रस लगा है ऐसे कायर को वह प्रतिकूल लगता है। अंतरसे तू सबसे छूट

जा। सब विकल्पसे, सबसे छूट जा। अंतर शांतरस भरा है, ऐसी बात, जो कायर है, जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है ऐसे जीवों को वह प्रतिकूल पड़ता है। उसे तो बाहर का सब अच्छा लगता है। जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है उसे सब बाहर का ही अच्छा लगता है। अंतर की रुचि नहीं लगती। भगवान के वचन कायर को प्रतिकूल है।

मुमुक्षु :- मुनि मुनित्व की मर्यादा का उल्लंघनकर विशेष बाहर नहीं जाते। मर्यादा तोड़कर विशेष बाहर जाये तो अपनी मुनिदशा ही नहीं रहे। तो मुनिराज को कैसी मर्यादा होती है?

समाधान :- मुनि अपनी मर्यादा छोड़कर बाहर नहीं जाते। उनकी जो दशा है, आत्मा में छूटे-सातवें गुणस्थान में प्रतिक्षण अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में झुलते हैं। क्षण में बाहर आये, क्षण में अंतर में जाते हैं। बाहर आये तो श्रुतज्ञान के विचार होते हैं, देव-गुरु-शास्त्र की ओर के विचार होते हैं। शुभ विकल्प होते हैं। लेकिन उसमें अधिक समय नहीं रुकते, तुरंत अंतर में जाते हैं। प्रतिक्षण छूटे-सातवें गुणस्थान में झुलते हैं। ऐसी दशामेंसे बाहर शुभभावों में अधिक समय नहीं रुकते। उनको शुभभाव का भी इतना रस नहीं चढता कि मुनि की मर्यादा जो सातवें गुणस्थान में जाने की है, वहाँ सहज चले जाते हैं। शास्त्र लिखते हैं तो शास्त्र में इतना रस चढ गया कि उसमें इतना एकत्व हो गया कि सातवाँ गुणस्थान नहीं आये। तो उनकी मुनिदशा पलट जाये। शास्त्र लिखते हों, भगवान के स्तोत्र रचते हो, भगवान के स्तोत्र बोलते हों, उपदेश देते हो उन सब में ऐसा रस नहीं चढता। अन्दर ज्ञायकधारा तो होती है, लेकिन अंतर लीनता करना छूट जाये ऐसा नहीं बनता। (यदि ऐसा हो तो) मुनित्व की मर्यादा छूट गयी।

विकल्प में भी मुनि के जो पंच महाव्रत के कार्य हैं उसकी मर्यादा में खड़े हैं। उससे अधिक जो गृहस्थ के कार्य हैं ऐसे कार्य में वे जुड़ते नहीं। गृहस्थों के साथ विशेष बातचीत करना, गृहस्थों के कार्य में जुड़ना, कोई व्यवस्था में जुड़ना, ऐसे कार्य मुनि को नहीं होते। तो उनकी मुनिदशा पलट जाती है। ऐसा उनको बाहर में नहीं होता, अंतर में भी शुभभाव में विशेष नहीं रुकते। वे तो अंतर में हैं। ऐसा उनको

रस लग गया कि अंतर अप्रमत्त दशा नहीं आये ऐसा नहीं बनता। मर्यादा छोड़कर बाहर नहीं जाते। उन्हें तो-मुनिओं को तो आत्मा में ही सुहाता है।

शास्त्र में आता है न? सब छूट गया, आप सबका निषेध करते हो तो मुनिदशा मुनिपना कैसे पालेंगे? मुनि किसके आश्रयसे मुनिपना पालेंगे? मुनि अशरण नहीं है। उनको आत्मा की शरण है। आत्मा के अमृत में ऐसे लीन हैं कि उन्हें तो आत्मा का ही शरण है। बाहर शुभभाव आये तो सबका निषेध भी आता है। सबका निषेध करोगे तो मुनिपना किसके आधारसे पालेंगे? मुनि अपने स्वरूप के आधारसे बारंबार अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में स्वरूप में जाते हैं। उसके आधारसे वे मुनिपना पालते हैं। यदि उससे अधिक समय शुभभाव में रुक जाये तो उनको अप्रमत्त दशा यदि नहीं आये तो मुनि की दशा का उल्लंघन होता है। और बाहर के कार्य में कोई गृहस्थ जैसे कार्य में रुक जाये तो पंच महाव्रतसे बाहर हो जाते हैं। मर्यादा छूटती नहीं। मुनिदशा में उसके योग्य शुभभाव होते हैं। गृहस्थों को गृहस्थ के योग्य अणुव्रत आदि होते हैं। सम्यग्दर्शन में सम्यग्दर्शन के योग्य होते हैं और मुनि को मुनि के योग्य होते हैं। ऐसी मुनिदशा की मर्यादा होती है। छठे-सातवें गुणस्थान में झुलते मुनि उसमें ही आगे बढ़ते हैं और किसीको उस भव में केवलज्ञान होता है, किसीको दूसरे भव में केवलज्ञान होता है। ऐसी मुनि की दशा है।

मुमुक्षु :- सातवें को बाधा पहुँचे ऐसे शुभभाव में भी नहीं आते और छठेसे नीचे जाये ऐसे अशुभ परिणाम भी नहीं होते।

समाधान :- ऐसे अशुभ भी नहीं आते। छठेसे नीचे जाये ऐसे नहीं आते और सातवे को विघ्न हो ऐसे शुभभाव नहीं होते।

मुमुक्षु :- इसका नाम मुनिपना की मर्यादा है।

समाधान :- हाँ, यह मुनिपना की मर्यादा है।

मुमुक्षु :- मुनिराज सम्यग्दृष्टि को वंदन करते हैं, नियमसार गाथा-७२ में है। इसका स्पष्टीकरण कीजिये।

समाधान :- मुनिराज सम्यग्दृष्टि को वंदन करते हैं यानी उनका आदर करते हैं। मुक्ति का मार्ग पूरा आदर करने

योग्य है। सम्यग्दर्शनसे लेकर अंतिम कक्षा का जो मुक्ति का मार्ग है, मुक्ति की दशा है वह सब आदर करने योग्य है। मुनि व्यवहार नहीं करते। बाहरसे सम्यग्दृष्टि को देखकर सीधे वंदन करे ऐसा नहीं होता। उनका अंतर में आदर करते हैं। जिन्होंने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, ऐसा सम्यग्दर्शन जिसने प्राप्त किया ऐसा आत्मा वंदन करने योग्य है, उसको वंदन करता हूँ। उनका आदर करते हैं। उनको सीधा वंदन करते हैं ऐसा उसका अर्थ नहीं है। मुक्ति का मार्ग हमें आदरणीय है। जिसे मुक्ति का मार्ग प्रगट हुआ, ऐसी मुक्ति प्रगट हुई वह आदर करने योग्य है।

मुमुक्षु :- अनुमोदन किया।

समाधान :- अनुमोदन करते हैं। अनादि कालसे जो सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है, मुक्ति का मार्ग प्रारंभ नहीं हुआ है और मुक्ति का मार्ग शुरू होता है, जिसमें सम्यग्दर्शन मुख्य है, फिर उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सब होता है। विशेष आराधना होती है। फिर तीनों रत्न एकत्रित हों तब पूरी दशा केवलज्ञान तक पहुँचते हैं। सम्यग्दर्शनसे लेकर जबसे मुक्ति का मार्ग प्रगट हुआ और मुक्ति का अंश प्रगट हुआ वह सब आदर करने योग्य है।

मुमुक्षु :- सन्मार्ग जयवंत वर्तों, उसमें वह आ गया। मार्ग में आ गये हैं।

समाधान :- उसमें आ गया। सन्मार्ग जयवंत वर्तों।

मुमुक्षु :- प्रति क्षण आत्मा को ऊर्ध्व रखना, कृपा करके (समझाईये)।

समाधान :- दूसरा क्या है?

मुमुक्षु :- ज्ञानी का उपयोग बाहर हो, फिर भी दृष्टि मूल में टिकी है, तो एकसाथ दोनों कैसे हो सकते हैं?

समाधान :- उपयोग बाहर हो और दृष्टि अन्दर हो, उपयोग बाहर है और दृष्टि अन्दर है। लेकिन उपयोग बाहर ऐसा नहीं है कि उपयोग एकदम बाहर ही है और दृष्टि अन्दर है। उसकी ज्ञान की परिणति, दृष्टि के साथ ज्ञान की परिणति भी अन्दर है। उपयोग भले बाहर हो, लेकिन दृष्टि के साथ ज्ञान की परिणति है। जो दृष्टि प्रगट हुई, जिस दृष्टिने आत्मा का आश्रय लिया, तो ज्ञान भी आत्मा का आश्रय लेता है, ज्ञान भी दृष्टि को आधार देता है। ज्ञान विपरीत कार्य करता

है और दृष्टि विपरीत कार्य करती है, ऐसा नहीं है। एकदूजे को साथ देते हैं। दृष्टिने जिस आत्मा को ग्रहण किया उस आत्मा को ज्ञान भी ग्रहण करता है। लेकिन ज्ञान का कार्य विशेष में दूसरे को जानता है। द्रव्य को, पर्याय को सबको जानता है। ज्ञान सब जानता है। दृष्टि एक आत्मा को ग्रहण करती है, उसका आश्रय ग्रहण करती है। ज्ञान उसको आधार देकर, उसका कार्य जैसा है वैसा रखकर उसका उपयोग बाहर जाता है। उपयोग ऐसे बाहर नहीं जाता, दृष्टि तोड़कर उपयोग बाहर नहीं जाता। दृष्टि को ग्रहणकरके, दृष्टि को साथ देकर उपयोग बाहर जाता है। उसकी ज्ञाताधारा वैसी की वैसी है। चारित्र भी जो दृष्टि है उसको आधार देकर उसमें स्थिर होता है। आत्मा का आश्रय लेकर चारित्र भी उसमें स्थिर होता है। सब एकदूजे को साथ देनेवाले हैं। एकदूसरेसे विरुद्ध नहीं है। साथ देकर कार्य करनेवाले हैं।

दृष्टिने जो आराधना शुरू की है उस आराधना को विशेष आराधन करनेवाले (हैं)। उसके साथ ज्ञान और चारित्र विशेष आराधना करनेवाले हैं। दृष्टि भले ही मुख्य हो, सब एकदूसरे को साथ देनेवाले हैं। उपयोग बाहर हो और दृष्टि कोई विपरीत कार्य करे, दृष्टि विपरीत और ज्ञान विपरीत कार्य करे ऐसा नहीं है। एकदूजे एकदूसरे को साथ देते हैं। कोई अपेक्षासे आत्मा नित्य, कोई अपेक्षासे अनित्य, कोई अपेक्षासे शुद्ध, कोई अपेक्षासे अशुद्ध, ये सब विरोधी नहीं है। द्रव्य-वस्तु अपेक्षासे शुद्ध और पर्याय में अशुद्धता (है)। यह सब अविरोध है। अनेकान्त स्वभाव अविरोध है, वैसे उसकी परिणति भी अविरोध है। ज्ञान, ज्ञायक की धारा, दृष्टि, ज्ञायक की धारा, उसकी ज्ञाताधारा रखकर उपयोग बाहर जाता है।

उपयोग अनादिसे जैसे राग की एकत्वबुद्धिसे, राग की एकत्वबुद्धिसे उपयोग बाहर जाता था ऐसे नहीं जाता है। ज्ञायक की ज्ञाताधारा प्रतिक्षण हाजिर है और उपयोग बाहर

जाता है। उपयोग अपनी परिणति, दृष्टि को आधार देकर, ज्ञायक की परिणति टिकाकर उपयोग बाहर जाता है। आत्मा को छोड़कर उपयोग बाहर नहीं जाता। ऐसी भेदज्ञान की धारा इसीप्रकार चलती हुई इसीप्रकारसे आगे बढ़ते हैं। परस्पर एकदूसरे के विरोधी नहीं हैं।

मुमुक्षु :- एक ही समय में उपयोग बाहर भी हो और अंतर...

समाधान :- अंतर में परिणति है। ज्ञान की परिणति साथ में है। दृष्टि और ज्ञान की परिणति है। उपयोग बाहर हो तो भी।

मुमुक्षु :- उस परिणति को आप लब्धरूप परिणति कहेंगे ?

समाधान :- हाँ, वह लब्धरूप परिणति है। कार्य करनेवाले सब होते हैं, कार्य सबको एक ही करना होता है। अनन्त गुणरत्नाकर आत्मा है, उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र परस्पर एकदूसरे को साथ देनेवाले हैं।

मुमुक्षु :- अन्दर तकरार नहीं करते।

समाधान :- नहीं, अन्दर तकरार नहीं करते, विरोध नहीं है। ये इसको तोड़ दे, वह उसको तोड़ दे ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु :- दर्शन, ज्ञान, चारित्र में भी ज्ञान मुख्य गुण है ?

समाधान :- साधना में दर्शन की मुख्यता रहती है-सम्यग्दर्शन की। पहले जानने के लिये ज्ञान का व्यवहार आता है। अभी जाना नहीं है, निर्णय करने के लिये (ज्ञान होता है)। लेकिन साधना जहाँ शुरू हुई वहाँ आश्रय मजबूतीसे सम्यग्दर्शन-दर्शनने लिया है। भले मुख्यता दर्शन की रहती है, लेकिन ज्ञान, चारित्र आदि सब साथ हो तो ही आराधना पूर्ण होती है। दर्शनने आत्मा को ग्रहण किया है, लेकिन आराधना विशेष तो तीनों रत्न एकत्रित हों तब होती है। केवलज्ञान तक पहुँचता है।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जुलाई-२०२०) का शुल्क एक मुमुक्षु, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२१८...)

अथवा किसी उद्देशसे छुपाया होगा? अथवा कथन भेदसे परम्परासे समझमें न आनेसे 'अधिष्ठान' विषयक कथन लयको प्राप्त हुआ होगा? ये विचार हुआ करते हैं। यद्यपि हम तीर्थंकरको महा पुरुष मानते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, उनके अपूर्व गुणोंपर हमारी परम भक्ति है, और इसलिये हम समझते हैं कि 'अधिष्ठान' तो उन्होंने जाना था, परंतु लोगोंने परंपरासे मार्गकी भूलसे उसका लय कर डाला।

जगतका कोई 'अधिष्ठान' होना चाहिये ऐसा बहुतसे महात्माओंका कथन है। और हम भी यही कहते हैं कि 'अधिष्ठान' है। और वह 'अधिष्ठान' ही हरी भगवान है, जिसे पुनः पुनः हृदयदेशमें देखते हैं।

'अधिष्ठान' एवं उपर्युक्त कथनके विषयमें समागममें अधिक सत्कथा होगी। लेखनमें वैसी नहीं आ सकेगी। इसलिये इतनेसे ही रुक जाता हूँ।

जनक विदेही संसारमें रहते हुए भी विदेही रह सके यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, महा महा विकट है; तथापि जिसका आत्मा परमज्ञानमें तदाकार है, वह जैसा रहता है वैसे रहा जाता है। और जैसे प्रारब्धकर्मका उदय वैसे रहते हुए उसे बाध नहीं होता। जिनका सदेह होनेका अहंभाव मिट गया है ऐसे उन महाभाग्यकी देह भी मानो आत्मभावमें ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कहाँसे होगी?

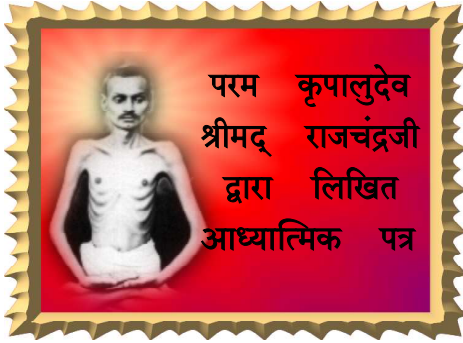
श्रीकृष्ण महात्मा थे और ज्ञानी होते हुए भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना जैन शास्त्रसे भी जाना जा सकता है और यह यथार्थ है; तथापि उनकी गतिके विषयमें जो भेद बताया है उसका भिन्न कारण है। और भागवत आदिमें तो जिन श्रीकृष्णका वर्णन किया है वे तो परमात्मा ही हैं। परमात्माकी लीलाको महात्मा कृष्णके नामसे गाया है। और इस भागवत और इस कृष्णको यदि महापुरुषसे समझ ले तो जीव ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह बात हमें बहुत प्रिय है। और आपके समागममें अब इसकी विशेष चर्चा करेंगे। लिखा नहीं जाता।

स्वर्ग नरक आदिकी प्रतीतिका उपाय योगमार्ग है। उसमें भी जिसे दूरदर्शिताकी सिद्धि प्राप्त होती है, वह उसकी प्रतीतिके लिये योग्य है। सर्वकाल यह प्रतीति प्राणीके लिये दुर्लभ हो पड़ी है। ज्ञानमार्गमें इस विशेष बातका वर्णन नहीं है। परन्तु यह सब हैं अवश्य।

मोक्ष जितने स्थानमें बताया है वह सत्य है। कर्मसे, भ्रांतिसे अथवा मायासे छूटना यह मोक्ष है। यह मोक्षकी शब्द व्याख्या है।

जीव एक भी है और अनेक भी है। अधिष्ठानसे एक है। जीवरूपसे अनेक है। इतना स्पष्टीकरण लिखा है, तथापि इसे बहुत अधूरा रखा है। क्योंकि लिखते हुए कोई वैसे शब्द नहीं मिले। परन्तु आप समझ सकेंगे ऐसी मुझे निःशंकता है।

तीर्थंकरदेवके लिये सख्त शब्द लिखे गये हैं, इसलिये उन्हे नमस्कार।



२१८

सर्वात्मा हरिको नमस्कार

‘सत्’ सत् है, सरल है, सुगम है, उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है। सत् है। कालसे उसे बाधा नहीं है। वह सबका अधिष्ठान है। वाणीसे अकथ्य है। उसकी प्राप्ति होती है; और उस प्राप्तिका उपाय है। चाहे जिस संप्रदाय, दर्शनके महात्माओंका लक्ष्य एक ‘सत्’ ही है। वाणीसे अकथ्य होनेसे गूँगेकी भाँति समझाया गया है, जिससे उनके कथनमें कुछ भेद लगता है; वस्तुतः भेद नहीं है।

लोकका स्वरूप सर्व कालमें एक स्थितिका नहीं है; वह क्षण क्षणमें रूपांतर पाता रहता है; अनेक रूप नये होते हैं, अनेक स्थिर रहते हैं और अनेक लय पाते हैं। एक क्षण पहले जो रूप बाह्य ज्ञानसे मालूम नहीं हुआ था, वह दिखायी देता है; और क्षणमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लयको प्राप्त होते जाते हैं। महात्माकी विद्यमानतामें भासमान लोकके स्वरूपको अज्ञानीके अनुग्रहके लिये कुछ रूपांतरपूर्वक कहा जाता है; परंतु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं है, ऐसा यह रूप ‘सत्’ नहीं होनेसे चाहे जिस रूपमें वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गयी है, और इसके कारण, सर्वत्र यह स्वरूप हो ही, ऐसा नहीं है ऐसा समझमें आता है। बालजीव तो उस स्वरूपको शाश्वत मानकर भाँतिमें पड़ जाते हैं; परन्तु कोई योग्य जीव ऐसी अनेकताकी कथनीसे परेशान होकर ‘सत्’ की ओर झुकता है। प्रायः सभी मुमुक्षु इसी प्रकार मार्गको प्राप्त हुए हैं। भ्रांति का ही रूप ऐसे इस जगतका वारंवार वर्णन करनेका महा पुरुषोंका यही उद्देश है की उस स्वरूपका विचार करते हुए प्राणी भ्रांतिको प्राप्त हो कि सच्चा क्या है? यों अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ? और मेरे लिये क्या कल्याणकारक है? यों विचार करते करते इसे एक भ्रांतिका विषय मानकर जहाँसे ‘सत्’की प्राप्ति होती है ऐसे संतकी शरणके बिना छुटकारा नहीं है ऐसा समझकर, उसे खोजकर, शरणपात्र होकर, ‘सत्’ पाकर ‘सत्’ रूप हो जाता है।

जैनकी बाह्य शैलीको देखते हुए तो, तीर्थकरको संपूर्ण ज्ञान होता है यों कहते हुए हम भ्रांतिमें पड़ जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि जैनकी अंतर्शैली दूसरी होनी चाहिये। क्योंकि इस जगतको ‘अधिष्ठान’ से रहित वर्णित किया गया है, और वह वर्णन अनेक प्राणियों, विचक्षण आचार्योंको भी भ्रांतिका कारण हुआ है। तथापि हम अपने अभिप्रायसे विचार करते हैं, तो ऐसा लगता है कि तीर्थकरदेव तो ज्ञानी आत्मा होने चाहिये, परंतु उस कालकी अपेक्षासे जगतके रूपका वर्णन किया है और लोक सर्व कालके लिये ऐसा मान बैठे हैं, जिससे भ्रांतिमें पड़े हैं। चाहे जो हो, परंतु इस कालमें जैनमें तीर्थकरके मार्गको जाननेकी आकांक्षावाले जीवोंका होना दुर्लभ संभवित है, क्योंकि चट्टानपर चढ़ा हुआ जहाज, और वह भी पुराना, यह भयंकर है। उसी प्रकार जैनकी कथनी जीर्ण शीर्ण हो गयी है। ‘अधिष्ठान’ विषयकी भ्रांतिरूप चट्टानपर उसका जहाज चढ़ा है, जिससे सुखरूप होना संभव नहीं है। यह हमारी बात प्रत्यक्षरूपमें दिखायी देगी।

तीर्थकरदेवके सम्बन्धमें हमें वारंवार विचार रहा करता है कि उन्होंने ‘अधिष्ठान’के बिना इस जगतका वर्णन किया है, उसका क्या कारण होगा? क्या उन्हें ‘अधिष्ठान’का ज्ञान नहीं हुआ होगा? अथवा ‘अधिष्ठान’ही नहीं होगा?

(अनुसंधान पृष्ठ सं.१८ पर...)